प्रवचनसार में संसार और मोक्ष का स्वरूप

डॉ० रमेश चन्द जैन

संसार—आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार संसरण करते हुए (गोल फिरते हुए, परिवर्तित होते हुए) द्रव्य की क्रिया का नाम संसार है।[१] संसार में स्वभाव से अवस्थित कोई नहीं है।[२] जीव द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है। उसमें मनुष्यादिक पर्यायें होती हैं।[३] अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीव के साथ किस कारण पुद्गल का सम्बन्ध होता है कि जिससे उसकी मनुष्यादि पर्यायें होती हैं? इसका उत्तर यह है कि कर्म से मलिन आत्मा कर्मसंयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म के संयोग से होने वाले अशुद्ध परिणाम को) प्राप्त करता है, उससे कर्म चिपक जाता है, इसलिए परिणाम कर्म है।[४] द्रव्यकर्म परिणाम का हेतु है; क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्तता से ही (अशुद्ध) परिणाम देखा जाता है।

प्रश्न—ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आएगा।

उत्तर—नहीं आएगा; क्योंकि अनादि सिद्धद्रव्य कर्म के साथ सम्बद्ध आत्मा को जो पूर्व का द्रव्यकर्म है, उसका यहां हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।[५]

पुद्गल पिण्डों को कर्म रूप करने वाला आत्मा नहीं है—लोक चारों ओर सूक्ष्म तथा बादर और कर्मत्व के अयोग्य तथा योग्य पुद्गल स्कन्धों के द्वारा अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है। कर्मत्व योग्य स्कन्ध जीव की परिणति को प्राप्त करके कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, जीव उनको नहीं परिणमाता।[६] कर्मरूप परिणत वे पुद्गल पिण्ड देहान्तर रूप परिवर्तन को प्राप्त करके पुनः पुनः जीव के शरीर होते हैं।[७]

अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पुद्गल के साथ बन्ध—जैसे रूपादि रहित जीव रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को देखता है और जानता है, उसी प्रकार अरूपी आत्मा का रूपी पुद्गल के साथ बन्ध होता है।[८]

भावबन्ध—जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है वह जीव उन मोह, राग, द्वेष के द्वारा बन्ध रूप है।[९]

द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध—आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जीव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता और जानता है, उसी से उपरक्त होता है और उसी से कर्म बंधता है।[१०] इसी की व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—'यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभास स्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थ समूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता और जानता है, उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है, वह वास्तव में स्निग्ध रूक्षत्वस्थानीय भावबन्ध है और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इस प्रकार यह द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध है।[११]

१. 'संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स', प्रवचनसार, १२०
२. 'तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे', वही, १२०
३. वही, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, पृ० २४७-२४८
४. प्रवचनसार, १२१
५. वही, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १२१
६. प्रवचनसार, १६८-१६९
७. वही, १७०
८. वही, १७४
९. वही, १७५
१०. वही, १७६
११. तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब आत्मा रागद्वेषयुक्त होता हुआ शुभ और अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है।[1] इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्र ने मेघजल का दृष्टान्त दिया है। जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप में परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता) और इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा) आदि रूप में परिणमित होता है। इसी प्रकार जब यह आत्मा रागद्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभरूप परिणमित होता है तब अन्य योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुए कर्म-पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप में परिणमित होते हैं।[2] प्रदेशयुक्त वह आत्मा यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ बन्ध कहा गया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द की दृष्टि में कर्म दो प्रकार का होता है—एक वह कर्म जो आत्मा में होता है, जिसे जैन दर्शन में भावकर्म कहा जाता है, दूसरा द्रव्यकर्म जो पौद्गलिक होता है, जिसकी संयुक्तता से आत्मा मलिन होती है। वैशेषिक मत में कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जैन दर्शन में कर्म स्वतन्त्र पदार्थ न होकर आत्मा का अशुद्ध परिणाम अथवा पुद्गल का विशेष परिणमन है, जिसे क्रमशः द्रव्यकर्म और भावकर्म कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन में कर्म केवल मूर्तद्रव्यों में ही रहता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा व्यापक है, अतः इसमें कर्म नहीं होता। जैन दर्शन में भावकर्म आत्मा में होता है और द्रव्यकर्म भी आत्मा के प्रदेशों के साथ संसारी अवस्था में एक क्षेत्रावगाही रहता है, अतः वह आत्मा का कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन में कर्म और क्रिया दोनों को एक ही माना गया है। इसीलिए वहां कर्म पांच प्रकार के बतलाए गए हैं—(१) उत्क्षेपण (२) अवक्षेपण (३) आकुंचन (४) प्रसारण और (५) गमन। जैन दर्शन में क्रिया चाहे वह स्वप्रत्ययक हो अथवा परप्रत्ययक हो, प्रत्येक द्रव्य में पाई जाती है, क्योंकि वहां प्रत्येक द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त माना गया है, जब कि कर्म या तो आत्मा का (वैभाविक) परिणाम होता है अथवा पौद्गलिक कर्म होता है, अन्य किसी प्रकार का कर्म नहीं होता है। वेदान्त दर्शन में यद्यपि निष्पन्द ब्रह्म में मायोपाधिक आद्यस्पंद या हलन-चलन कर्म माना गया है, किन्तु उस माया को वे मिथ्या मानते हैं, जैनधर्म उसे सर्वथा मिथ्या नहीं मानता है। वेदान्त ब्रह्म को स्थितिमय और सृष्टि को गत्यात्मक मानता है। जैनधर्म सब पदार्थों को स्थितिगतिमय मानता है।

सांख्य दर्शन में सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में प्रकृति की मुख्यता है, क्योंकि पुरुष कर्त्ता नहीं है, वह निष्क्रिय है, कर्त्ता स्वयं प्रकृति है। इसलिए परिणमन भी प्रकृति में होता है। कारण यह है कि पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति सक्रिय। जैन दर्शन में संसार का कारण आत्मा और कर्मपुद्गल दोनों हैं; क्योंकि आत्मा रागद्वेष करता है, उससे कर्मपुद्गल आकृष्ट होते हैं, कर्म पुद्गल के निमित्त से जीव रागद्वेष करता है, इस प्रकार का चक्र निरन्तर चलता रहता है। पुरुष अर्थात् आत्मा कथंचित् कर्त्ता है और कर्मपुद्गल भी कथंचित् कर्त्ता है। पुरुष या आत्मा सर्वथा निष्क्रिय नहीं है। जड़ और चेतन दोनों में परिणमन होता है। सांख्य दर्शन में पुरुष को बन्ध नहीं होता है, जैन दर्शन में संसारी अवस्था में पुरुष का बन्ध होता है; क्योंकि जिसका बन्ध होता है, उसी का मोक्ष होना युक्तियुक्त ठहरता है। सांख्य दर्शन में शुभ-अशुभ, सुख-दुःख प्रकृति के धर्म हैं। जैन दर्शन के अनुसार ये संसारी अवस्था में आत्मा को होते हैं और इनके होने में कथंचित् प्रकृति या कर्म निमित्त है। सांख्य दर्शन में पुरुष कर्त्ता नहीं भोक्ता है। जैन दर्शन में पुरुष कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है। जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है, भोक्ता सर्वथा भिन्न नहीं होता है। सांख्य आत्मा को ज्ञानमय न मानकर ज्ञान को जड़ प्रकृति का धर्म कहता है। जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का धर्म कहता है।

बन्ध के निरूपक दो नय—बन्ध के निरूपक दो नय हैं—(१) निश्चय नय (२) व्यवहार नय। राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य पाप रूप द्वैत है, आत्मा राग परिणाम का ही कर्त्ता है, उसी का ग्रहण करने वाला है और उसी का त्याग करने वाला है—यह शुद्ध द्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चय नय है और जो पुद्गल-परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल-परिणाम का कर्त्ता है, उसका ग्रहण करने वाला और छोड़ने वाला है, ऐसा अशुद्ध द्रव्य का निरूपणस्वरूप व्यवहार नय है। द्रव्य की प्रतीति शुद्ध रूप और अशुद्ध रूप दोनों प्रकार से की जाती है। निश्चयनय यहां साधकतम है, अतः उसका ग्रहण किया गया है। साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक होने से निश्चयनय ही साधकतम है, अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।[4]

जीव की शुभ, अशुभ और शुद्ध अवस्थायें—जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ स्वयं होता है और जब शुद्ध रूप परिणमन करता है तब शुद्ध होता है।[5] धर्म से परिणमित स्वरूप वाला यदि शुद्ध उपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग वाला हो तो स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है।[6] अशुभ उदय से आत्मा कुमनुष्य,

१. प्रवचनसार, १८७
२. तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १८७
३. प्रवचनसार, १८८
४. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १८९
५. 'जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥', प्रवचनसार, ९
६. वही, ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।[1]

बौद्ध दर्शन में दुःख का कारण तृष्णा बतलाई गई है। मनुष्य को जहां सुख एवं आनन्द मिलता है, वहां ही उसकी प्रवृत्ति होती है। उसकी यह अधिक प्रवृत्ति या चाह ही तृष्णा कहलाती है। यह तृष्णा ही पुनः पुनः उत्पन्न कराती है अर्थात् तृष्णा पौनर्भविकी है। नन्दि और राग से सहगत है। जहां-जहां सत्व उत्पन्न होते हैं, वहां वहां तृष्णा अभिनन्दन करती-कराती है अतएव तृष्णा पौनर्भविकी, नन्दिरागसहगता और तत्रतत्राभिनन्दिनी कही गई है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने दुःख का मूल कारण रागद्वेष (तृष्णा) को कहा है। उनके अनुसार जिसने वस्तु-स्वरूप को जान लिया है, ऐसा जो ज्ञानी द्रव्यों में राग व द्वेष को नहीं प्राप्त होता है, वह उपयोग विशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुःख का क्षय करता है।[3] बौद्ध दर्शन के अनुसार पंचेन्द्रिय और उनके विषय जो कि प्रिय, मनोज्ञ, एवं आनन्दकर हैं, तृष्णा से उत्पन्न होते हैं।[4] सत्त्व इनमें आसक्त हो इन्हें ही सुखरूप मानकर उनमें ही आनन्द लेते हैं, जिससे तृष्णा बढ़ती ही जाती है। तृष्णा से उपादान, भव, जाति, जरामरण आदि दुःख उद्भूत होते हैं। जैन दर्शन में शरीर तथा इन्द्रियों की निर्मिति के कारण जीव के द्रव्य और भावकर्म हैं। इनमें भावकर्मों का मूल कारण तृष्णा अथवा राग, द्वेष और मोह हैं। इनमें से रागद्वेष को दुःख का कारण ऊपर कुन्दकुन्द बतला ही चुके हैं। मोह के विषय में उनका विचार है कि पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उठा हुआ भी जीव यदि मोहादि को नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को नहीं पाता है।[5]

आत्मा का परिणमन—यदि आत्मा स्वयं स्वभाव से शुभ या अशुभ नहीं होता (शुभाशुभ भाव में परिणमित ही नहीं होता) तो समस्त जीवनिकायों के संसार भी विद्यमान नहीं है, ऐसा सिद्ध होगा।[6]

शंका—संसार का अभाव तो सांख्यों के लिए दूषण नहीं, किन्तु भूषण ही है।

समाधान—ऐसा नहीं है। संसार का अभाव ही मोक्ष कहा जाता है। वह मोक्ष संसारी जीवों का नहीं दिखाई देता है। यदि संसारी जीवों के भी मोक्ष मानो तो प्रत्यक्ष से विरोध हो जाएगा।[7]

शुद्धोपयोग का अधिकारी—जिन्होंने पदार्थों और सूत्रों को भली प्रकार जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त हैं, जो वीतराग हैं तथा जिन्हें सुख दुःख समान हैं, ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी हैं।[8]

शुद्धोपयोगी की अवस्था—जो शुद्धोपयोगी है, वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूप रज से रहित स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त होता है। इस प्रकार वह आत्मा स्वभाव को प्राप्त, सर्वज्ञ और सर्वलोक के अधिपतियों से पूजित स्वयमेव हुआ होने से स्वयम्भू है।[9] तात्पर्य यह कि (१) शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख सातिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है अर्थात् अनादि संसार से जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया ऐसा अपूर्व परम अद्भुत आह्लाद रूप होने से अतिशय (२) आत्मा का ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होने से आत्मोत्पन्न (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने से विषयातीत (४) अत्यन्त विलक्षण होने से अनुपम (५) समस्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से अनन्त और (६) बिना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने से अविच्छिन्न सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं के होता है, इसलिए वह सुख सर्वथा वाञ्छनीय है।[10]

केवलज्ञानी अवधक है—केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उस रूप में परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उसे अवधक कहा गया है।[11] बौद्धदर्शन में कहा गया है कि वेदना तृष्णा का कारण है, तब अर्हत् को वेदना होने से उसे तृष्णा होगी। अर्हत इस प्रकार तृष्णावान् कहलाएगा। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि तृष्णा का बीज प्रतिपक्ष विशेष के होने से ही उद्धृत होता है। अर्हत् को वेदना के रहने पर भी अविद्या बीज के अभाव में तृष्णा की उत्पत्ति नहीं होती।[12]

१. प्रवचनसार १२
२. 'कतमं च भिक्खवे दुःखसमुदयं अरियसच्चं ?
यायं तण्हा पोनोभविका नंदीरागसहगता तत्रतत्राभिनंदिनी ॥', दीघनिकाय, १/३०८
३. 'एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥', प्रवचनसार, ७८
४. मज्झिमनिकाय, १/२५६-२७१
५. 'चत्ता पावारम्भं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादीणलहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥', प्रवचनसार, ७९
६. वही, ४६
७. जयसेनाचार्यविरचित तात्पर्यवृत्ति व्याख्या, ४६
८. प्रवचनसार, १४
९. वही, १५-१६
१०. वही, तत्त्वप्रदीपिका, १३
११. प्रवचनसार, ५२
१२. अर्थविनिश्चय, पृ० १२८-१२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में भी अर्हन्तावस्था में वेदनीय कर्म का सद्भाव बतलाया गया है, किन्तु मोह (तृष्णा) कर्म के अभाव के कारण वह वेदनीय कर्म कुछ भी फल देने में समर्थ नहीं हो पाता है। अविद्या अथवा मिथ्यात्व के अभाव के कारण मोह नहीं रहता है।

जहां तक इन्द्रियां हैं वहां तक स्वभाव से ही दुःख है—जिन्हें विषयों में रति है, उन्हें स्वाभाविक दुःख है। यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थ में व्यापार न हो।[1] धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिनके चित्त में बहुत संकल्प विकल्प होते हैं और जिसके तीव्रराग होता है, वह सत्त्व शुभ ही शुभ देखता है, उसकी तृष्णा बढ़ती है। वह अपने बन्धन और अधिक दृढ़ करता है। आगे और भी कहा गया है जो राग में रत है, वह मकड़ी के द्वारा अपने बनाए हुए जाले की तरह प्रवाह में फंसे हुए हैं। तृष्णा रूपी सरिता स्निग्ध होती है, सत्त्वों के चित्त को अच्छी लगती है। इनके बन्धन में बंधे सत्त्व आनन्द की खोज करते हैं। भगवान् सदैव ही सत्त्वों को इस अंकुरित होने वाली तृष्णा लता को प्रज्ञारूपी कुठार से काटने की प्रेरणा देते हैं।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों का एक प्रकार से निषेध किया है। वे कहते हैं—उपयोग यदि शुभ हो तो जीव का पुण्य तथा अशुभ हो तो पाप संचय को प्राप्त होता है। इन दोनों के अभाव में संचय नहीं होता।[3]

आत्मा ही सुख दुःख रूप होती है, देह नहीं—स्पर्शनादिक इन्द्रियां जिनका आश्रय लेती हैं ऐसे इष्ट विषयों को पाकर (अपने शुद्ध) स्वभाव से परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही सुखरूप (इन्द्रिय सुख रूप) होता है, देह सुख रूप नहीं होता।[4] एकांत से अर्थात् नियम से स्वर्ग में भी शरीर शरीरी (आत्मा) को सुख नहीं देता, परन्तु विषयों के वश से सुख अथवा दुःख रूप स्वयं आत्मा होता है।[5] यदि प्राणी की दृष्टि तिमिरनाशक हो तो दीपक से कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता। उसी प्रकार जहां आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमन करता है, वहां विषय क्या कर सकते हैं?[6]

इन्द्रिय सुख दुःख ही है—जो इन्द्रियों से प्राप्त होना है, वह सुख परसम्बन्धयुक्त बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है, इस प्रकार वह दुःख ही है।[7] तात्पर्य यह कि इन्द्रियसुख को परद्रव्य की अपेक्षा होती है, अतः वह सपर है। पारमार्थिक सुख परद्रव्य से निरपेक्ष आत्माधीन होता है। तीव्र क्षुधा, तृष्णा आदि अनेक बाधाओं सहित होने के कारण इन्द्रियसुख बाधासहित है। निजात्मसुख पूर्वोक्त समस्त बाधाओं से रहित होने के कारण अव्याबाध है। इन्द्रियसुख प्रतिपक्षभूत असातावेदनीय कर्म के उदय से विच्छिन्न होता है, इसके विपरीत अतीन्द्रियसुख प्रतिपक्षभूत असातावेदनीय कर्म के अभाव से निरन्तर होता है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत भोगाकांक्षा प्रभृति अनेक अपध्यान के वश से भावी नरक दुःखों के उत्पादक कर्म बन्ध का उत्पादक होने से इन्द्रिय सुख बन्ध का कारण है, अतीन्द्रिय सुख समस्त बुरे ध्यानों से रहित होने के कारण बन्ध का कारण नहीं है। इन्द्रिय सुख में परम शान्ति नहीं रहती अथवा उसमें हानिवृद्धि होती रहती है, अतः वह विषम है। अतीन्द्रिय सुख परमतृप्तिकर तथा हानि और वृद्धि से रहित है। इस प्रकार इन्द्रियों से लब्ध संसार सुख दुःख रूप ही है।[8]

आत्मज्ञान का उपाय—जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक् तत्त्व को प्राप्त किया है, ऐसा जीव यदि राग द्वेष को छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।[9]

राग, द्वेष तथा मोह क्षय करने योग्य क्यों हैं?—मोहरूप, रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणमित जीव का विविध बन्ध होता है, इसलिए वे सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य हैं।[10] सांख्य दर्शन में माने गए सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण प्रीति, अप्रीति तथा विषादात्मक हैं।[11] तत्वकौमुदीकार ने प्रीति का अर्थ सुख, अप्रीति का अर्थ दुःख तथा विषाद का अर्थ मोह किया है।[12] ये तीनों जैन दर्शन में कहे हुए राग, द्वेष और मोह ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार राग, द्वेष और मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं। इसीलिए आस्रवभाव के बिना द्रव्य-प्रत्यय कर्म

---

१. प्रवचनसार, ६४
२. 'ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सपंकतं मक्कटको व जालं ॥', धम्मपद, ३४७; ३४१ व ३४०
३. प्रवचनसार, १५६
४. वही, ६५
५. 'एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥', वही, ६६
६. वही, ६७
७. वही, ७६
८. वही, तात्पर्यवृत्ति, ७६
९. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, ८०-८१
१०. वही, ८४
११. सांख्यकारिका, १२
१२. सांख्यतत्त्वकौमुदीव्याख्या, कारिका १२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध के कारण नहीं हैं।[1] तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि में राग, द्वेष व मोह नहीं हैं,क्योंकि राग, द्वेष व मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं बना जा सकता। राग, द्वेष व मोह के अभाव से उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यास्रव पुद्गल कर्म के बंधने का कारण नहीं बन सकते; क्योंकि द्रव्यास्रव के— पुद्गल कर्म बंधने के कारणपने का कारणपना रागादिक ही है, इसलिए कारण के कारण का अभाव प्रसिद्ध है, इस कारण ज्ञानी का बन्ध नहीं होता।[2] उपर्युक्त राग, द्वेष तथा मोह सांख्य के अनुसार प्रकृति के धर्म हैं तथा जैनदर्शन में भी इनका कारण कथंचित् प्रकृति (द्रव्यकर्म) है।

मोह के चिह्न—पदार्थों का अन्यथाग्रहण, तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव तथा विषयों की संगति यह सब मोह के चिह्न हैं।[3] शुद्धात्मादि पदार्थ जो कि यथास्वरूप स्थित हैं, उनमें विपरीताभिनिवेश से अयथाग्रहण अन्यथाग्रहण है। शुद्धात्माकी उपलब्धि लक्षण परम उपेक्षा संयम से विपरीत दयापरिणाम करुणाभाव है अथवा व्यवहार से यहां करुणा का अभाव ग्रहण किया जा सकता है। ये सब दर्शनमोह के चिह्न हैं। निर्विषय सुखास्वाद से रहित बहिरात्मा जीवों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में जो प्रकृष्टता से संसर्ग है, उसे देखकर प्रीति और अप्रीतिरूप लिंगों से चारित्रमोह नाम वाले रागद्वेष जाने जाते हैं। उक्त जानकारी के अनन्तर ही निर्विकार स्वशुद्ध भावना से राग, द्वेष तथा मोह नष्ट करने चाहियें।[4]

मोहक्षय के उपाय—प्रवचनसार में मोहक्षय के निम्नलिखित उपाय बतलाए गए हैं—

१. **जिनशास्त्र का अध्ययन**—जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोह का समूह क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।[5] तात्पर्य यह कि वीतराग सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र से कोई भव्य एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, इत्यादि परमात्मा के उपदेशक श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानता है, तदनन्तर विशिष्ट अभ्यास के वश परमसमाधि काल में रागादि विकल्प से रहित मानसप्रत्यक्ष से उसी आत्मा की जानकारी करता है, अथवा उसी प्रकार अनुमान से जानकारी करता है। जैसेकि 'इसी देह में निश्चयनय से शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभाव वाला परमात्मा है, क्योंकि निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है, जैसेकि सुखादि का प्रत्यक्ष होता है।' इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी यथासंभव आगम के अभ्यास के बल से उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाने जाते हैं। अतः मोक्षार्थी भव्य को आगम का अभ्यास करना चाहिए।[6] जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष को हनता है, वह अल्पकाल में समस्त दुःखों से छूट जाता है।

२. **स्व-पर विवेक**—यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जाने[7] अर्थात् जिनागम द्वारा ऐसा विवेक करना चाहिए कि अनन्त द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है।

निर्वाण की सम्प्राप्ति—प्रवचनसार की आरम्भिक गाथाओं में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आस्रव की प्राप्ति के अनन्तर साम्यभाव की प्राप्ति बतलाई है तथा साम्यभाव से मोक्ष[8] की प्राप्ति प्रतिपादित की गई है। आचार्य जयसेन और अमृतचंद्र ने यहां **सम्मं** का अर्थ चारित्र माना है।[9] अमृतचन्द्राचार्य ने उसके वीतराग और सराग दो भेद किए हैं तथा वीतराग चारित्र की प्राप्ति मुख्य ध्येय बतलाई है। वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सम्पन्न होकर जिसमें कषाय-कण विद्यमान होने से जीव को जो पुण्यबंध की प्राप्ति का कारण है ऐसे सराग चारित्र को—वह (सराग चारित्र) क्रम से आ पड़ने पर भी दूर उल्लंघन करके जो समस्त कषाय-क्लेश रूपी कलंक से भिन्न होने से निर्वाण प्राप्ति का कारण है, ऐसे वीतराग चारित्र को प्राप्त करता हूं। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस रूप में वर्णित किया है कि चारित्र धर्म है और जो धर्म है वह साम्य है तथा साम्य मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है। तात्पर्य यह कि धर्म, चारित्र और साम्य ये तीनों शब्द एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है, उस समय तन्मय है। इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए।[10] इस धर्म (चारित्र अथवा साम्यभाव) से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

१. समयसार, १७७
२. वही, आत्मख्याति टीका, पृ० २४४
३. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, ८५
४. वही
५. 'जिण सत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥', प्रवचनसार, ८६
६. वही, तात्पर्यवृत्ति व्याख्या, ८६
७. प्रवचनसार, ९०
८. 'किच्चा अरहन्ताणं············सव्वेसिं।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती॥', प्रवचनसार ४-५
९. वही, तत्त्वप्रदीपिका तथा तात्पर्यवृत्ति, ४/५
१०. प्रवचनसार, ७-८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org